Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 SHISRRJ | Volume 3 | Issue 5 | ISSN : 2581- 6306

महाभारत के आदिपर्व में वर्णित राजधर्म : एक अध्ययन

डॉ.अशोक कुमार वर्मा
सहायक आचार्य,
संस्कृत विभाग,
जवाहर लाल नेहरू स्मारक पी0जी0 कालेज,
महराजगंज,उत्तर प्रदेश।

Article Info
Volume 3, Issue 5
Page Number : 319-323

Publication Issue :
September-October-2020

Article History
Accepted : 20 Sep 2020
Published : 30 Sep 2020

सारांश – आदिपर्व के अन्तर्गत राजधर्म के कुछ तथ्यों का वर्णन हमें यत्र–तत्र प्राप्त हो जाता है जिससे तात्कालिक राजव्यवस्था का दृष्टान्त कुछ अंशों में प्रतिभासित हो जाता है जो हमारे ज्ञानवर्धन में सहायक होता है।

मुख्यशब्द – महाभारत,आदिपर्व,राजधर्म, राजव्यवस्था।

प्राचीन काल में आधुनिक शासन–प्रणाली अर्थात् लोकतंत्र का अभाव था, राजतंत्र–शासन व्यवस्था का प्रचलन था जिसमें शासनतन्त्र की प्रधानता राजाश्रित थी। सम्प्रभुता सम्पन्न राजा ही होता था। राजा में ही शासनतन्त्र की समस्त शक्तियाँ सन्निहित होती थी। उसका आदेश ही कानून होता था। राज्य के अन्य पदाधिकारी राजा के सहायक की भूमिका का निर्वाहन करते थे। कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य की समस्त कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका शक्तियों का प्रधान राजा ही होता था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राजा की नीति स्वेच्छाचारिता पर आधारित होती थी। राजा को भी व्यापक रूप से धर्मशास्त्रों के नियमों–विनियमों के अन्तर्गत राजव्यवस्था का संचालन करना पड़ता था। ऐसा न करने पर राजा को पदच्युत भी किया जा सकता था। इस प्रकार राजा का पद अति उत्तरदायित्वपूर्ण होता था, निरंकुशता का भी कोई स्थान नहीं था। राज्य शासन सुव्यवस्थित रूप से संचालित हो इसके लिए राजा अपने अधीनस्थ विभिन्न पदों पर अधिकारियों की नियुक्ति करता था। राज्य शासन के कुशल संचालन के लिए धर्मशास्त्र के अन्तर्गत 'राजधर्म' को भी समाविष्ट किया गया जो कि कालान्तर में अतिमहत्ता प्राप्त विषय बन गया क्योंकि 'राजधर्म' के सम्यक् अनुपालन से राजा को इहलोक एवं परलोक– दोनों लोकों के लाभों की प्राप्ति होगी ऐसी मान्यता दृढ़ होने लगी।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

राजधर्म प्रजा के चतुर्दिक–उन्नयन का हेतु समझा जाता था। चाहे प्रजा की धर्म विषयक उन्नति हो, अर्थविषयक हो, काम–विषयक हो या मोक्ष–विषयक हो सबकी सफलता के आश्रय का केन्द्रबिन्दु 'राजधर्म' के प्रशस्त अनुपालन में ही सन्निहित था।

'राजधर्म' शब्द दो शब्दों के योग से बना है– राज + धर्म। 'राजधर्म' में षष्ठी तत्पुरुष समास है जिसका अर्थ है राजा का धर्म (राज्ञ : धर्मः)। धर्म शब्दः इति कर्त्तव्यतावचनः अर्थात् धर्म को हम कर्तव्य के रूप में लेते हैं। 'राजधर्म' कहते किसे हैं? इसका आशय क्या है? इसका अनुपालन कब सुनिश्चित होता है? इसका प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष प्रतिफल क्या है? आदि विषयों के बारें में अतिविस्तार से चर्चा महाभारत में की गयी है जो आधुनिक राजशास्त्र अनुवर्तकों के लिए प्रेरणास्त्रोत व मार्गदर्शन का सिद्धान्त प्रस्तुत करती हैं।

राजधर्म के सन्दर्भ में आदिपर्व में भी कुछ चर्चा यत्र–तत्र प्राप्त होती है। अध्याय 41 में राजा के महत्त्व को दर्शाते हुए, राजाविहीन राज्य की भीषणता एवं विकट परिस्थिति का 'शमीकमुनि' द्वारा वर्णन किया गया है। शमीकमुनि के अनुसार– यदि राजा रक्षा न करें तो भारी कष्ट पहुँचता है।[1] राजा के बिना सुखपूर्वक धर्म का अनुष्ठान भी नहीं हो सकता है।[2] जिस देश में राजा न हो वहाँ अनेक प्रकार के दोष पैदा हो जाते हैं। ऐसे धर्म की मर्यादा त्यागकर उच्छृंखल बने हुए लोगों को राजा अपने दण्ड के द्वारा शिक्षा देता है।[3] दण्ड भय के उत्पत्ति के कारण है फिर भय से ही तत्काल शान्ति स्थापित होती है।[4] राजा से धर्म की स्थापना होती है और धर्म से स्वर्गलोक की प्रतिष्ठा होती है। राजा से सम्पूर्ण यज्ञकर्म प्रतिष्ठित होते हैं और यज्ञ से देवताओं की प्रतिष्ठा होती है।[5]

देवता जब प्रसन्न होते हैं तो वर्षा होती है, वर्षा से अन्न पैदा होता है और अनन्त से निरन्तर मनुष्यों के हित का पोषण करते हुए राज्य का पालन करने वाला राजा मनुष्यों के लिए विधाता– (धारण–पोषण करने वाला) है। राजा दस श्रोत्रिय के समान है ऐसा मनुजी का कथन है।[6]

अध्याय 108 श्लोक संख्या 25 में किन्हीं विशिष्ट कारणों से उत्तराधिकारी का अधिकार च्युत होने की बात कही गयी है, इस श्लोक में यह बताया गया है कि धृतराष्ट्र अंधे होने के कारण और विदुर जी पारशव अर्थात् शूद्रा के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न होने के कारण राज्य न पा सकें अतः पाण्डु ही राजा बने।[7]

अध्याय 169 श्लोक 75 में राजाओं को पुरोहित किसे बनाना चाहिए? इसका वर्णन मिलता है, इसके अन्तर्गत यह बताया गया है कि जो छहों अंगों सहित वेद के स्वाध्याय में तत्पर सत्यवादी, धर्मात्मा और मन को वश में रखने वाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित होने चाहिए।[8]

इसी अध्याय में पुरोहित के महत्त्व के बारें में भी गन्धर्वराज चित्ररथ ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि केवल शौर्य तथा साहस के बल पर राजा कोई, बड़ा कार्य नहीं कर सकता, ब्राह्मणत्व के साथ मिले बिना क्षत्रशक्ति नितान्त निष्प्रभ होती है।[9] ब्राह्मण परिचालित राज्य हर तरह से निरापद रहता है।[10]

अध्याय 182 के श्लोक संख्या–6 से 10 में वर्णित है कि आचार्य धौम्य की पुरोहित के पद पर नियुक्ति करके पाण्डवों ने अपने आपको सनाथ और कृतकृत्य समझा।[11]

अध्याय 19 में कणिक द्वारा धृतराष्ट्र को दिये गये कूटनीति विषयक बहुशः उपदेश वर्णित है। सही मायनों में यह नकारात्मक 'राजधर्म' का उपदेश है। मंत्रिप्रवर कणिक को बुलाकर पाण्डवों के यश, पराक्रम से ईर्ष्या रखने वाले धृतराष्ट्र ने पूछा कि हे कणिक तुम निश्चय पूर्वक मुझे बताओ कि पाण्डवों के साथ सन्धि करनी चाहिए या विग्रह। इस पर कणिक ने राजनीति के सिद्धान्त का परिचय देने वाली तीखी बात करते हुए कहते हैं कि– राजा को सर्वदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहना चाहिए, सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए, अपनी दुर्बलता प्रकट नहीं होने देना चाहिए, लेकिन शत्रु की दुर्बलता को जानने के लिए सदैव प्रयास करना चाहिए, अवसर मिलते ही आक्रमण करना चाहिए जैसे कछुआ अपने अंगों की रक्षा करता है उसी प्रकार राजा को अपने सब अंगों (सप्ताङ्ग) की रक्षा करनी चाहिए। यदि कोई कार्य शुरू कर दें तो उसे पूरा किए बिना कभी न छोड़े क्योंकि शरीर में चुभा हुआ शूल यदि आधा टूटकर भीतर रह जाए तो बहुत दिनों तक कष्ट देता रहता है। आपत्ति में फँसे हुए शत्रु को अवश्य मार डालना चाहिए, शत्रु दुर्बल हो तो भी किसी प्रकार की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे थोड़ी सी आग ईंधन का सहारा पाकर सामूचे वन को जला देती है, उसी प्रकार छोटा शत्रु भी विनाशकारी बन जाता है। स्वयं दुर्बलता की स्थिति में शत्रु के सम्मुख सर्वथा दीन–हीन बन जाना चाहिए जैसे–बहेलिए के सामने मृग हो जाते हैं। इस प्रकार सामादि उपायों से विश्वास उत्पन्न करके शत्रु को मार डालना चाहिए। शत्रु को मारने से ही राजा निर्भय हो सकता है। शत्रु पक्ष के त्रिवर्गों प्रभुशक्ति, उत्साह शक्ति, मन्त्रशक्ति, पंचवर्गों (अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना) और सप्तवर्गों, (साम, दाम, भेद, दण्ड, उद्वन्धन, विषप्रयोग, आग लगाना–शत्रु को वश में करने या दबाने के ये सात साधन हैं) का सर्वथा से अन्य आश्रयियों का स्वतः ही विनाश हो जाता है।[12]

कणिक कूटनीति वर्णन प्रसंग में आगे कहते हैं कि– लोक में विद्वान पुरुषों का यह सारा आयोजन ही अभीष्ट फल की सिद्धि के लिए होता है। जब तक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाए तब तक शत्रु को कंधे पर बिठाकर ढोना पड़े तो ढ़ोना भी चाहिए। परन्तु जब अपने अनुकूल समय आ जाए तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दें जैसे घडे को पत्थर पर पटक कर फोड़ दिया जाता है।[13]

धृतराष्ट्र ने पुनः पूछा हे कणिक, साम, दाम, दण्ड अथवा भेद के द्वारा शत्रु का नाश कैसे किया जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में कणिक ने किसी वन में रहने वाले चालाक गीदड़ और उसके चार मित्रों, बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवले का वृतान्त के माध्यम से यह बताते हैं कि डरपोक को भय दिखाकर फोड़ ले, जो अपने से शूरवीर हो उसे हाथ जोड़कर वश में कर लेना चाहिए, लोभी को धन देकर तथा बराबर और कमजोर को पराक्रम से वश में कर लेना चाहिए।

आगे भी कणिक ने कहा कि ऐश्वर्य चाहने वाला राजा शत्रु की भूमिका में आए हुए पुत्र, भाई, मित्र, पिता, गुरु आदि को भी मार डाले। शत्रु पर क्रोध शून्य बने रहें, मीठे वचन ही बोले, शत्रु को मार कर भी दया दिखाये, शोक करें, रोयें और आँसू बहाए, शत्रु के प्रति विश्वास उत्पन्न करें, स्वागत सत्कार करें अवसर आने पर सर्प की भाँति तीखे दाँतों से काटे जिससे शत्रु फिर उठकर बैठ न सके।

आगे के श्लोक में कणिक जी कहते है कि जो विश्वास पात्र नहीं हैं उस पर कभी विश्वास न करें, परन्तु जो विश्वासपात्र हैं उस पर भी अति विश्वास न करें क्योंकि अतिविश्वास से उत्पन्न होने वाला भय राजा की जड़–मूल का भी नाश कर डालता है।[14]

गुप्तचर नियुक्ति के सन्दर्भ में कणिक जी कहते हैं कि– शत्रु के राज्य में पाखण्डी, तपस्वी जैसे वेश–भूषा वाले गुप्तचरों को उद्यान, घूमने–फिरने के स्थान, देवालय, मद्यपान के अड्डे, गली या सड़क, सम्पूर्ण तीर्थस्थान, चौराहे, कुएँ, पर्वत, वन, नदी तथा जहाँ मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी होती हो उन सभी स्थानों पर नियुक्त करना चाहिए।

नीतिज्ञ राजा के विषय में कणिक कहते हैं कि ये ऐसे वृक्ष के समान रहें जिसमें फूल तो खूब लगे हों, परन्तु फल न हों, वह बातों से लोगों को फल की आशा दिलाये (उसकी पूर्ति न करें) फल लगने पर भी उस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो (लोगों की स्वार्थसिद्धि में वह विघ्न डाले या विलम्ब करें) वह देखने में पक्का लगे किन्तु रहे कच्चा (स्वार्थियों की दुराशा को पूर्ण न होने दे) कभी स्वयं जीर्ण न हो (तात्पर्य यह है कि अपना धन खर्च करके शत्रुओं का पोषण न करें)। धर्म, अर्थ और काम का सामंजस्य स्थापित करें। बुद्धि से ही कोई कार्य करें किसी को आशा देकर दीर्घकाल तक रोके रखना चाहिए। राजा को चाहिए कि अपने मनोभाव को किसी के सामने प्रकट न करें। अनुकूल अवसर आने पर उसका प्रयोग करें।

इस प्रकार कणिक ने कूटनीति का चरम–उदाहरण दिया परन्तु यह राजनीति सर्वथा स्वार्थ पर आधारित है यह छद्मनीति का अंग है। कल्याण साधक राजा के लिए यह 'राजधर्म' का अंग नहीं है फिर भी सुरक्षा के दृष्टिकोण से दूसरे से सावधानी के स्तर से यह कूटनीति एक मार्ग–दर्शिका का काम अवश्य करती है।

अध्याय 122 के श्लोक 77 में सीमित परिवार की बात जिसे आज की भाषा में हम 'परिवार नियोजन' (Family Planning) कहते हैं की चर्चा की गयी है। जब पाण्डु ने कुन्ती से तीन सन्तान की प्राप्ति कर लिए तो पुनः लोभवशात् वह और सन्तानोत्पत्ति की बात कुन्ती से कहना चाहते हैं, इस पर कुन्ती उन्हें रोकते हुए कहती हैं कि आर्यपुत्र! आपत्तिकाल में भी तीन से अधिक चौथी सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा शास्त्रों में नहीं दी है। तीन से अधिक चौथी सन्तान चाहने वाली स्त्री स्वैरिणी होती है और पाँचवे पुत्र के उत्पन्न होने पर कुलटा समझी जाती है।[12]

इस प्रकार हम देखते है कि आदिपर्व के अन्तर्गत राजधर्म के कुछ तथ्यों का वर्णन हमें यत्र–तत्र प्राप्त हो जाता है जिससे तात्कालिक राजव्यवस्था का दृष्टान्त कुछ अंशों में प्रतिभासित हो जाता है जो हमारे ज्ञानवर्धन में सहायक होता है।

सन्दर्भ

1. यदि राजा न संरक्षेत् पीडा नः परमा भवेत्।। महाभारत, आदिपर्व 41/22
2. न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम्।। महाभारत, आदिपर्व 41/23

3. अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा।
   उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै।। महाभारत, आदिपर्व 41/27
4. दण्डात् प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा।। महाभारत, आदिपर्व 41/28
5. राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात् स्वर्गः प्रतिष्ठितः
   राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद् देवाः प्रतिष्ठिताः।। महाभारत, आदिपर्व 41/29
6. देवाद् वृष्टिः प्रवर्तेत वृष्टोरोषध्यः स्मृताः।
   ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयन् सततं हितम्।। महाभारत, आदिपर्व 41/30
   मनुष्याणां च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः।
   दशश्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत।। महाभारत, आदिपर्व 41/31
7. धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत।
   पारसवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह।। महाभारत, आदिपर्व 108/25
8. वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
   धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः।। महाभारत, आदिपर्व 169/75
9. यस्तु स्यात् कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुस्कृतः।
   ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम्।। महाभारत, आदिपर्व 169/73–80
10. पुरोहितमिमं प्राप्य.....धर्मकामार्थतत्त्ववित्।। महाभारत, आदिपर्व 173/11–15
11. तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते।
    ते धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः।। महाभारत, आदिपर्व 182/6–10
12. उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम।
    ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम्।। महाभारत, आदिपर्व 139/3–16
13. फलोर्थोऽयं समारम्भो.....घटमिवाश्मनि।। महाभारत आदिपर्व 139/21–22
14. न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
    विश्वासाद् भययुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति।। महाभारत, आदिपर्व 139/62
15. नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
    अतः परं स्वैरिणी स्याद्बन्धकी पंचमे भवेत्।। महाभारत, आदिपर्व 122/77